वैदिक स्वरित

वैदिक भाषा की अनेक विशेषताएँ हैं जो उसे सामान्य लौकिक संस्कृत से विशिष्ट स्वरूप प्रदान करते हैं, जैसे व्याकरण के नियमों की उदारता, लेट लकार का प्रयोग और भाषा में उदात्तादि स्वरों का प्रयोग, इत्यादि। वैदिक भाषा में स्वरों का विशेष महत्व है। मुख्य रूप से उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित तीन स्वरों का प्रयोग संहिताओं में दिखता है। प्रस्तुत संदर्भ में स्वरित स्वर पर विस्तार से विवेचन किया जाएगा।

स्वरित स्वर एक मूलतः आश्रित स्वर है, जो उदात्त के बाद आनेवाले अनुदात्त का बनता है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि स्वरित मूलतः उदात्त पर आश्रित रहता है। कहीं-कहीं सन्धि आदि के कारण जब आश्रयदाता उदात्त स्वर नष्ट हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में ~~बिना उदात्त~~ दिखाई देने वाला स्वरित, बिना उदात्त के भी रहता है। ऐसी परिस्थिति में बिना उदात्त के मिलने वाले स्वरित को स्वतन्त्र स्वरित कहा जाता है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि स्वरित के स्वतन्त्र एवं आश्रित मुख्य दो भेद होते हैं।

आश्रित स्वरित

विविध परिस्थितियों में दिखने वाले आश्रित स्वरित के चार भेद प्राप्त होते हैं-

1) तैरोव्यंजन स्वरित :- जब पूर्ववर्ती उदात्त और उससे परे आनेवाले आश्रित स्वरित के मध्य व्यञ्जन का व्यवधान होता है, तो उसे तैरोव्यंजन स्वरित कहा जाता है। यथा-

अग्निनां, मुञ्जन्ति

→ यहाँ उदात्त 'इ'कार और स्वरित 'आ'कार के मध्य 'न'कार का व्यवधान आने से 'आ'कार तैरोव्यंजन स्वरित

2) तैरोविराम स्वरित :- पदपाठ में जब अवग्रह(ऽ) से ठीक पूर्ववर्ती स्वर उदात्त हो और उस उदात्त पर आश्रित स्वरित अवग्रह के बाद आता हो तो उसे तैरोविराम स्वरित कहा जाता है। यथा – यज्ञऽपतिम् , पञ्चऽभिः।

→ प्रस्तुत उदाहरण में अवग्रह से पूर्ववर्ती 'अ'कार उदात्त है और उस पर आश्रित स्वरित 'प'कार उत्तरवर्ती 'अ'कार अवग्रह के पश्चात् आया है, अतः यह तैरोविराम स्वरित है।

3) प्रातिहत स्वरित :- जब संहिता पाठ में पूर्वपद के अन्तिम अक्षर पर उदात्त हो और उसके बाद आने वाले पद का आदि स्वर स्वरित बन जाए तो उसे प्रातिहत स्वरित कहा जाता है। यथा :- यः + त्वा = यस्त्वा

→ यहाँ 'य'कार उत्तरवर्ती 'अ'कार उदात्त है, और उत्तरपद 'त्वा' का 'आ'-कार, जो कि अनुदात्त था वह उदात्त के बाद आने के कारण स्वरित बन गया है, इसलिए यह 'प्रातिहत स्वरित' का उदाहरण है।

4) पादवृत / वैवृत स्वरित :- जब पदान्त व पदादि स्वरों के बीच सन्धि के कारण कोई विकार उत्पन्न नहीं होता उसे विवृति कहा जाता है, जब ऐसी स्थिति में पूर्ववर्ती पद के अन्तिम उदात्त के कारण बाद वाले पद का आदि वर्ण स्वरित बन जाता है, तो, ~~बाद~~ वह पादवृत या वैवृत स्वरित कहलाता है।

ध्रुवा अंसन्

स्वतन्त्र स्वरित

1) जात्य स्वरित / नित्य स्वरित :- जब एक पद में संयुक्त व्यञ्जन में 'य' कार एवं 'व' कार से परे आनेवाले स्वरित स्वर से पहले कोई उदात्त / अनुदात्त आदि स्वर न हो, तो उसे जात्य स्वरित / नित्य स्वरित कहा जाता है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार जब एक ही पद में अन्तः सन्धि के कारण 'इ'कार एवं 'उ'कार के स्थान पर 'यण्' सन्धि होने पर 'य'कार 'व'कार बन जाता है, तथा उससे परे जो स्वरित आता है, उसे नित्य स्वरित / जात्य स्वरित कहा जाता है।
यथा → क्वं, स्वं

2) अभिनिहित स्वरित :- अभिनिहित सन्धि अर्थात् लौकिक संस्कृत में पूर्वरूप-सन्धि में पद के अन्त में उदात्त 'ए' और 'ओ' के बाद पदादि अनुदात्त ह्रस्व 'अ' कार परे होने पर जो पूर्वरूप सन्धि होकर 'ए' और 'ओ' पर जो स्वरित बनता है, वह अभिनिहित स्वरित कहलाता है।
यथा - सोऽब्रवीत्, तेऽब्रुवन्

3) क्षैप्र स्वरित :→ क्षैप्र सन्धि अर्थात् 'यण्' सन्धि में उदात्त 'इ' कार एवं 'उ'कार जब क्रमशः 'य', 'व' बन जाते हैं तो उनसे परे विद्यमान स्वर स्वरित हो जाता है, उसे क्षैप्र स्वरित कहा जाता है।
यथा - नु + इन्द्र = न्विन्द्र, वि + आनद् = व्यानद्

4) प्रश्लिष्ट स्वरित :- जब संहितापाठ में पदान्त एवं पदादि स्वरों के बीच सवर्ण दीर्घ सन्धि, वृद्धि सन्धि एवं गुण सन्धि होने पर जो एकादेश होता है, उसे प्रातिशाख्यों में प्रश्लिष्ट स्वरित के नाम से जाना जाता है। इसप्रकार जहाँ सवर्ण दीर्घ, वृद्धि, एवं गुण सन्धि होने पर जो स्वरित

वह पूर्व में उदात्त न होने के कारण स्वतन्त्र स्वरित हो जाता है, उसे प्रश्लिष्ट स्वरित कहा जाता है।

यथा - दिवीव - दिवि + इव

दिद्यूपदधाति - दिद्यु + उपदधाति

उपरोक्त स्वर सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि, स्वरित यद्यपि एक आश्रित स्वर है, तथापि विविध परिस्थितियों में सन्धि आदि के कारण आश्रयदाता उदात्त स्वर के नष्ट हो जाने पर जो स्वरित शेष रहता है, वह स्वतन्त्र स्वरित कहा जाता है।

वैदिक क्त्वार्थक प्रत्यय

वैदिक भाषा की अनेक विशेषताएँ हैं जो उसे लौकिक संस्कृत से अलग वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं, जैसे सुबन्त रूपों में विविधता, लेट लकार का प्रयोग, सन्धि नियमों में शिथिलता आदि। ऐसी ही एक अन्य विशेषता है - एक ही अर्थ में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग। लौकिक संस्कृत में जिस अर्थ में 'क्त्वा' का प्रयोग मिलता है, उसी अर्थ के लिए वैदिक संस्कृत में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है।

लौकिक संस्कृत में जब एक ही वाक्य में दो या अधिक क्रियाएँ हो रही हों तो पूर्वकालिक क्रिया के लिए धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय का विधान किया जाता है। पाणिनि ने - समानकर्तृकयोः पूर्वकाले - सूत्र द्वारा इसका विधान किया है।

वैदिक संस्कृत में 'क्त्वा' प्रत्यय के साथ-साथ त्वाय, त्वी, त्वीनम् ल्यप् (य) और अम्' – प्रत्ययों का प्रयोग देखा जा सकता है।

[A] क्त्वा :- एक ही वाक्य में उपस्थित दो क्रियाओं में पूर्वकालिक क्रिया के लिए 'क्त्वा' का प्रयोग किया जाता है, जैसे – इष्ट्वा गच्छति।

यहाँ √यज् धातु से क्त्वा प्रत्यय लगाने पर इष्ट्वा बना है। इसी प्रकार उक्त्वा, गत्वा.... आदि।

[B] त्वाय :- पाश्चात्य विद्वानों ने क्त्वा के अर्थ में 'त्वाय' प्रत्यय को एक स्वतन्त्र प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया है, जबकि पाणिनि ऐसे स्थानों पर 'क्त्वा' को ही स्वीकार करते हैं। तथा 'क्त्वा' प्रत्यय को 'क्त्वो-यक्' सूत्र से 'यक्' आगम का विधान करते हैं, जिससे गत्वाय, इष्ट्वाय, दत्वाय आदि रूप निष्पन्न होते हैं।

[C] त्वी :- वैदिक संस्कृत में क्त्वा के अर्थ में ही 'त्वी' का भी अनेक स्थानों पर प्रयोग दिखता है। पाणिनि ने 'स्नात्व्यादयश्च' सूत्र के द्वारा इसप्रकार के शब्दों को निपातन से साधु माना है। यथा – स्नात्वी, पीत्वी, भूत्वी आदि।

[D] त्वीनम् :- पाणिनि ने 'क्त्वा' के अर्थ में ही 'त्वीनम्' प्रत्ययान्त 'इष्ट्वीनम्' शब्द के साधुत्व को 'इष्ट्वीनमिति च' सूत्र के द्वारा निपातन से साधु माना है।

काशिकाकार ने भी 'पीत्वीनम्' शब्द को उदाहरण के रूप में रखा है।

परन्तु वैदिक साहित्य में कहीं भी 'त्वीनम' प्रत्ययान्त प्रयोग नहीं मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रस्तुत उदाहरण और इसीप्रकार के अन्य 'त्वीनम्' प्रत्ययान्त प्रयोग वेद की किसी लुप्त शाखा में रहे होंगे जो आज उपलब्ध नहीं है।

[E] ल्यप् (य) :- वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार की संस्कृत में जब धातु से पहले कोई उपसर्ग होता है, या किसी अन्य पद के साथ उसका समास होता है, तो वहाँ 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' का प्रयोग होता है। पाणिनि ने 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' सूत्र के द्वारा इसका विधान किया है।

यथा - अतिदीव्य, अनुदीव्य, अवसाय, आगत्य आदि।

[F] अम् (णमुल) :- वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रंथों में 'क्त्वा' के अर्थ में पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार 'अम्' प्रत्यय भी दिखाई देता है। परन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार ऐसे स्थानों पर दिखने वाले 'अम्' प्रत्यय को पूर्ण रूप से 'क्त्वा' के समान नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक ही वाक्य में जब दो क्रियाएँ एक साथ घटित होती हैं, तो 'अम्' का प्रयोग होता है, जिसे भारतीय परम्परा 'णमुल' के रूप में स्वीकार करती है।

यथा - अभिक्रामं जुहोति अभिजित्यै।

(पास पहुँचता हुआ विजय के लिए हवन करता है)

इस उदाहरण में 'अभिक्रामं' पद में 'अम्' प्रत्यय दिखता है, जो इसके समकालिक 'हवन' क्रिया के साथ-2 घटित होने वाली 'पास जाने' की क्रिया को अभिव्यक्त करता है।

⇒ उपर्युक्त विवेचन से 'क्त्वा' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले विविध प्रत्ययों का प्रयोग वैदिक संस्कृत की उदारता एवं उदात्तता को स्पष्ट स्पष्ट रूप से परिलक्षित करता है।

वैदिक तुमर्थक प्रत्यय

वैदिक भाषा की अनेक विशेषताएँ जो उसे लौकिक संस्कृत से पृथक करती हैं, उनमें से एक विशेषता है - एक ही अर्थ में अनेक 'कृत्' प्रत्ययों का प्रयोग। वैदिक संस्कृत में 'तुमुन' प्रत्यय के अर्थ में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग प्राप्त होता है। 'तुमुन' प्रत्यय मूल रूप से क्रिया के लिए क्रिया उपपद में होने पर भविष्यत् अर्थ में होने वाली क्रियावाचक धातु के साथ जोड़ा जाता है। म० पाणिनि ने - 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' - सूत्र के द्वारा इसका विधान किया है। लौकिक संस्कृत में जहाँ केवल 'तुमुन' प्रत्यय का विधान किया होता है, वहीं वैदिक संस्कृत में 'तुमुन' प्रत्यय के अर्थ में - से, सेन्, असे, असेन आदि अनेक प्रत्यय दिखते हैं। 'तुमन' और 'से... ...असेन' आदि प्रत्ययान्त शब्दों के 'मकारान्त' तथा 'एजन्त' रूपों को पाणिनि ने अव्यय माना है, जिसका विधान 'कृन्मेजन्तः' सूत्र के द्वारा किया गया है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ये सभी रूप मूलतः कृदन्त प्रातिपदिकों के विभक्त्यन्त रूप थे, जो काल के प्रवाह में निरन्तर ~~अप्रयुक्त~~ अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए। इसलिए उन्होंने इन सभी तुमर्थक प्रत्ययों को उनकी विभक्ति-मूलकता के आधार पर 5 भागों में बाँटा है जो क्रमशः इसप्रकार हैं -

[A] द्वितीयामूलक तुमर्थक प्रत्यय :- द्वितीयामूलक तुमर्थक प्रत्यय दो प्रकार के दिखते हैं - प्रथम वे प्रत्यय हैं जिनके अन्त में 'तुम्' दिखता है, तथा दूसरे वे जिनके अन्त में 'अम्' आता है।

[क] 'तुम्' अन्त वाले प्रत्यय :- महर्षि पाणिनि के अनुसार

'तुम' अन्त वाले प्रत्ययों में मूलत: 'तुमुन्' प्रत्यय होता है, जिसका अनुबन्ध लोप होने पर 'तुम' शेष बचता है।
यथा - दातुम्, प्रष्टुम् आदि

[ख] पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इसप्रकार के शब्द मूलत: 'तु' अन्त वाले प्रातिपदिकों के द्वितीयान्त रूप हैं, जो समय के बीत जाने पर तथा दीर्घ काल तक अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए।

[ख] 'अम्' अन्त वाले प्रत्यय :- जिन तुमर्थक प्रत्ययान्त शब्दों के अन्त में 'अम्' दिखता है, पाश्चात्य विद्वान उन्हे 'अकारान्त' प्रातिपदिकों के द्वितीया विभक्ति के रूप मानते हैं, जो बाद में अव्यय बन गए। परन्तु पाणिनि के अनुसार ऐसे शब्दों में 'णमुल'/'कमुल' प्रत्यय होता है। इसका विधान उन्होने - 'शकि णमुल्कमुलौ' सूत्र से किया है।
यथा - सीमधम्, आरुहम् आदि।

[B] चतुर्थीमूलक तुमर्थक प्रत्यय :- वैदिक संस्कृत में तुमर्थक प्रत्ययों में चतुर्थीमूलक तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग सर्वाधिक प्राप्त होता है। इसके रूपों में भी बहुत अधिक विविधता प्राप्त होती है। * पाणिनि के अनुसार - से, सेन्, असे, असेन्, क्से, क्सेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन्' आदि चतुर्थीमूलक प्रत्यय हैं।
[क] 'ए' अन्त वाले चतुर्थीमूलक तु० प्र० :- पाणिनि के अनुसार अनुबन्ध भेद से - से, सेन्, असे, असेन्, क्से, क्सेन् प्रत्ययान्त शब्दों के सभी रूप एकारान्त बनते हैं, पाश्चात्य

विद्वानों के अनुसार ये सभी शब्द मूलतः हलन्त अथवा अजन्त प्रातिपदिकों के चतुर्थ्यन्त रूप होते थे, जो कालक्रम में अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए। जैसे- भुवे, मुदे...

इनके अतिरिक्त चतु० मू० एकारान्त तुमर्थक प्रत्ययों में अनुबन्ध भेद से 'तवेङ्' एवं 'तवेन्' दो प्रत्ययों का और विधान करते हैं, जिनमें अनुबन्ध लोप होने के बाद 'तवे' शेष बचता है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ऐसे शब्दरूप जिनके अन्त में 'तवे' दिखता है, वे 'तु' अन्त वाले कृदन्त प्रातिपदिकों के चतुर्थ्यन्त रूप थे, जो दीर्घकाल तक अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए।

यथा- सूतवे, शातवे, पातवे आदि।

[ख] 'ऐ' अन्तवाले चतु० मू० तु० प्रत्यय :- वैदिक साहित्य में 'ऐ' अन्त वाले तीन प्रत्यय दिखते हैं, जो क्रमशः तवै, अध्यै, और इध्यै के रूप में पाणिनि ने स्वीकार किया है।

(i) तवै :- पाणिनि जिसे 'तवै' प्रत्ययान्त रूप स्वीकार करते हैं, मैक्डॉनल के अनुसार ऐसे शब्द 'तवा' अन्त वाले कृदन्त प्रातिपदिकों के चतुर्थ्यन्त रूप थे, जो कालक्रम में अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए।

यथा - एतवै, गन्तवै आदि।

(ii) अध्यै :- वैदिक साहित्य में जिन शब्दों के अन्त में अध्यै दिखता है, पाणिनि ने ऐसे स्थानों पर अनुबन्ध भेद से अध्यै, अध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, कध्यै और कध्यैन् प्रत्यय स्वीकार किए हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इसप्रकार के सभी रूप 'ध्या' अन्त वाले कृदन्त प्रातिपदिकों के चतुर्थ्यन्त रूप थे जो अपरिवर्तित रहने के कारण अव्यय बन गए। यथा - चरध्यै, गमध्यै, तरध्यै, आदि।

(iii) इष्यै :- पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'रोहिष्यै' और अव्यथिष्यै, दो पदों को 'तुमुन्' के अर्थ में निपातन से सिद्ध माना है, अर्थात् ये दोनों पद इसी रूप में प्राप्त होते हैं और इनमें 'इष्यै' प्रत्यय की कल्पना की जा सकती है।

[C] पञ्चमी तथा षष्ठीमूलक तुमर्थक प्रत्यय :- पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार 'असन्त' और 'तोसन्त' अव्यय पञ्चमी और षष्ठीमूलक दिखते हैं। पाणिनि ने इनमें क्रमशः 'कसुन्' तथा तोसुन प्रत्यय स्वीकार किया है।

यथा - आतृदः, अपपदः सम्पृचः आदि शब्द असन्त अव्यय हैं।

- गन्तोः, जनितोः आदि शब्द तोस् प्रत्ययान्त अव्यय हैं।

[D] सप्तमीमूलक तुमर्थक प्रत्यय :- पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार कुछ इकारान्त शब्द तुमर्थक प्रत्ययान्त माने जाते हैं, जो सामान्यतः हलन्त शब्द में तुमर्थक इकार प्रत्यय जोड़कर बनाए जाते हैं।

यथा - दृशि, बुधि, संदृशि आदि।

इसीप्रकार 'तृ' अन्त वाले प्रातिपदिकों से सप्तम्यन्त विधर्तरि, धर्तरि आदि रूप बनते हैं। इनके अलावा कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके अन्त में 'सन्' आता है और सप्तमी विभक्ति में वे इकारान्त अव्यय बन जाते हैं

यथा - पर्षाणि, तरीषणि आदि।

सप्तमीमूलक तुमर्थक प्रत्ययों के विषय में भारतीय परम्परा का मत पाश्चात्य विद्वानों से सर्वथा भिन्न है, वे इन्हें अव्यय नहीं मानते, उनके अनुसार ऐसे रूपों में तुमर्थक प्रत्यय न होकर समान्य 'कृत्' प्रत्यय होते हैं और उनके सप्तमी विभक्ति में ये रूप निष्पन्न होते हैं।

⇒ इसप्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक भाषा का उदात्त रूप और एक ही अर्थ में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग एक बहुत बड़ी विशेषता है, जिसे तुमर्थक प्रत्ययों के रूप में देखा जा सकता है।

वैदिक सन्धि

वैदिक भाषा की अनेक विशेषताएँ हैं जैसे रूपों की अनेकता प्रत्ययों का आधिक्य, लेट लकार का प्रयोग आदि। संहिता की स्थिती में वर्णों के उच्चारण में जो परिवर्तन होते हैं, उनमें भी लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक भाषा में कुछ भिन्नताएँ दिखाई देती हैं। वैदिक भाषा के विश्लेषण के लिए विशेष रूप से लिखे गए व्याकरण ग्रन्थ 'प्रातिशाख्य' के नाम से जाने जाते हैं। महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में वैदिक तथा लौकिक दोनों भाषाओं का विश्लेषण किया है। दोनों ही परंपराओं में (पाणिनि तथा प्रातिशाख्य) सन्धि/संहिता में होने वाले ध्वनि सम्बन्धी परिवर्तनों का भी विस्तार से वर्णन हुआ है। दोनों शास्त्रों का विषय एक समान होने पर भी दोनों में के विश्लेषण में कुछ अंतर दिखाई देता है। यह अन्तर मुख्य रूप से विविध सन्धियों के नामकरण में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

पाणिनीय व्याकरण में 'अच्' प्रत्याहार में आने वाले वर्णों को प्रातिशाख्यों में 'स्वर' के नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार 'हल्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों को व्यञ्जन कहा जाता है। इसप्रकार पाणिनीय व्याकरण के अच् तथा हल् सन्धि को क्रमशः स्वर तथा व्यञ्जन सन्धि कहा जाता है। प्रातिशाख्यों में सन्धि का एक तीसरा प्रकार 'विसर्ग सन्धि' प्राप्त होता है।

स्वर सन्धि

(क) प्रश्लिष्ट सन्धि :- पाणिनीय व्याकरण में सवर्ण-दीर्घ, वृद्धि और गुण सन्धि के नाम से जिनका विश्लेषण किया गया है, प्रातिशाख्यों में इन तीनों के लिए 'प्रश्लिष्ट सन्धि' नाम मिलता है।

* जब दो समान स्वर साथ-2 आते हैं तो उन दोनों के स्थान में उनका ही दीर्घ एक रूप आ जाता है, यथा-
अश्व + अजनि = अश्वाजनि, मधु + उदकम् = मधूदकम् इत्यादि।

* जब अ/आ के बाद उ/ऊ आए तो दोनों के स्थान पर 'ओ' एकादेश हो जाता है, यथा –

एतायाम + उप = एतायामोप

* जब अ/आ के बाद ओ/औ आए तो उनके स्थान पर 'औ' एकादेश होता है। यथा –

यत्र + ओषधि = यत्रौषधि

(ख) क्षैप्र सन्धि :- इ, उ, ऋ, लृ के बाद कोई भिन्न स्वर परे होने पर इ, उ, ऋ, लृ के स्थान पर क्रमशः य, व, र, ल एकादेश हो जाता है, पाणिनि ने 'इकोयणचि' सूत्र से इसका निर्देश किया है, इसे ही प्रातिशाख्यों में क्षैप्रसन्धि के नाम से जाना है।

यथा –

अभि + आयैषम् = अभ्यायैषम्

अध्वीन्नु + अत्र = अध्वीन्न्वत्र ।

(ग) अभिनिहित सन्धि :- जब पदान्त में ए/ओ वर्ण हो तथा उनके बाद 'अ'/'आ' आ जाए तो उन दोनों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। इसे प्रातिशाख्यों में 'अभिनिहित' नाम से जाना जाता है। यथा –

सूनवे + अग्ने = सूनवेऽग्ने

रथेभ्यो + अग्ने = रथेभ्योऽग्ने

पुरूरवे + अनु = पुरूरवोऽनु

(घ) भुग्न सन्धि :- जब 'ओ/औ' वर्णों के बाद 'अ/आ' के आ जाए तो 'ओ/औ' के स्थान पर क्रमशः 'अव्/आव्' आदेश होता है, इन्हे भुग्न सन्धि के नाम से जाना जाता है।

यथा –

वायो + आ = वायवा

उभौ + अपि = उभावपि

(ङ) उद्ग्राह सन्धि :- अब 'ए'/ओ' के बाद कोई स्वर परे हो तो ए/ओ के स्थान पर 'अ' आदेश हो जाता है, उसके बाद वहाँ अन्य कोई सन्धि कार्य नहीं होता। यथा-

अग्ने + इन्द्र = अग्न इन्द्र

वायो + उक्थेभि: = वायो उक्थेभि:।

(च) उद्ग्राहपदवृत्ति सन्धि :- जब 'ए/ओ' के बाद कोई दीर्घ स्वर परे हो तो 'ए/ओ' के स्थान पर 'अ' आदेश होता है, तथा उसके बाद कोई सन्धि नहीं होती

यथा - के + ईषते = क ईषते

निरन्तो + आयु = निरन्त आयु।

(छ) पदवृत्ति सन्धि :- जब ऐ/औ के बाद कोई स्वर परे हो तो ऐ/औ के स्थान पर 'आ' आदेश होता है, तथा उसके बाद कोई अन्य सन्धि नहीं होता।

यथा- अन्तवै + उ = अन्तवा उ

उभौ + ऊ = उभा ऊ

(ज) प्रगृहीत पद सन्धि :- जिन पदों की प्रगृह्य संज्ञा होती है, इनके बाद कोई भी स्वर परे होने पर प्रकृतिभाव रहता है, अर्थात् कोई सन्धि कार्य नहीं होता। सामान्यतः ई-कारान्त, ऊ-कारान्त और ए-कारान्त जो द्विवचनान्त शब्द हैं, उनकी, ओ-कारान्त निपातों की, एक अच् रूप निपातों की तथा युस्मे अस्मे, त्वे, मे आदि पदों की प्रगृह्य संज्ञा होती है, तथा इनके परे कोई भी स्वर होने पर सन्धि कार्य नहीं होता। यथा -

इन्द्राणी + इति = इन्द्राणी इति

वायू + इति = वायू इति

अथो + इति = अथो इति (अहो, आहो, उताहो)

युस्मे + इति = युस्मे इति

व्यञ्जन सन्धि

* ① अन्वक्षर सन्धि :- जब स्वर के बाद कोई व्यञ्जन आता है, तो उसे अन्वक्षर सन्धि कहा जाता है।

यथा - न + निमिषति = न निमिषति।

② जब व्यञ्जन के बाद कोई स्वर आकर जुड़ता है, तो उसे प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि कहा जाता है।

यथा - ध्यानम् + ईमहे = ध्यानमीमहे।

* अवर्गांगम आस्थापित सन्धि :- जब 'क-म' तक के स्पर्श वर्णों के बाद कोई व्यञ्जन परे हो और उनमें कोई परिवर्तन न हो तो उन्हें अवर्गांगम आस्थापित सन्धि कहा जाता है।

यथा - वषट् + ते = वषट् ते

यत् + पत्ये = यत्पत्ये।

* वर्गांगम आस्थापित सन्धि :- जब कवर्गादि वर्गों के प्रथम वर्णों के बाद वर्गों के 3, 4, 5 वें वर्ण तथा ह्, य्, व्, र्, ल, परे हो तो पूर्व में विद्यमान वर्ण के प्रथम वर्ण के स्थान पर इसी वर्ग के तृतीय वर्ण का आदेश होता है। यथा -

यद् वाक् + वदति = यद् वाग्वदति

षट् + भिः = षड्भिः

सरित् + भ्याम् = सरिद्भ्याम्।

विसर्ग सन्धि

* **प्रकृति सन्धि** :- अरिफित विसर्जनीय के पहले दीर्घ स्वर हो और उसके बाद कोई स्वर आ जाए तो विसर्ग और उसकी उपधा के स्थान में 'आ' आदेश हो जाता है। यथा -

  या: + औषधि = या औषधि

* **उद्ग्राह सन्धि** :- अरिफित विसर्जनीय के पहले ह्रस्व स्वर हो और बाद में कोई स्वर परे हो तो विसर्ग और उपधा के स्थान में 'अ' आदेश हो जाता है।

  यथा - य: + इन्द्र: = य इन्द्र: ।

* **प्रश्लिष्ट सन्धि** :- अरिफित विसर्जनीय से पहले ह्रस्व अकार हो और बाद में घोष व्यञ्जन परे हो तो विसर्ग और उससे पूर्ववर्ती ह्रस्व अकार के स्थान में 'ओ' आदेश हो जाता है। यथा -

  देव: + देवेभि: = देवो देवेभि: ।

* **रेफ सन्धि** :- रिफित विसर्जनीय के पहले कोई स्वर हो और उसके बाद कोई स्वर या घोष व्यञ्जन परे हो तो विसर्जनीय के स्थान में 'र' हो जाता है। यथा-

  प्रात: + अग्नि = प्रातरग्नि
  प्रात: + मित्रावरुणा = प्रातर्मित्रावरुणा ।

* **अक्राम सन्धि** :- अरिफित विसर्जनीय के बाद 'र' परे हो तो विसर्ग का लोप हो जाता है। यथा -

  अश्वा: + रथ: = अश्वारथ: ।

* अव्याप्ति सन्धि :- विसर्ग के बाद क्, ख्, प्, फ् परे हो तो विसर्ग ज्यों का त्यों बना रहता है, इसमें परिवर्तन नहीं होता, इसे अव्याप्ति सन्धि कहा जाता है।

य: + कृन्तत = य: कृन्तत

* उपचारित सन्धि - (i) जब एक पद के अन्दर विसर्ग के पहले 'अ' हो और इससे परे पति, करम्, कृधि, करत् और क: हो तो विसर्ग के स्थान पर 'स्' आदेश हो जाता है, इसे उपचारित सन्धि कहा जाता है। यथा -

ब्रह्मण: + पति = ब्रह्मणस्पति
वाच: + पति = वाचस्पति
न: + कृधि = नस्कृधि

(ii) * जब आवि:, हवि:, ज्योति: शब्दों के बाद क्, पान्त पश्यन्ति शब्द परे हो तो विसर्ग के स्थान में 'ष्' आदेश होता है। यथा -

आवि: + कर्ता = आविष्कर्ता
हवि: + कृणु = हविष्कृणु
हवि: + पान्तम् = हविष्पान्तम्
ज्योति: + पश्यन्ति = ज्योतिष्पश्यन्ति।

वैदिक सुबन्त

वैदिक भाषा में लौकिक संस्कृत के समान ही एकवचन द्विवचन, बहुवचन तथा तीन लिंग (पुं०, स्त्री०, नपुं) प्राप्त होते हैं। वैदिक सुबन्तों में भी सात विभक्तियाँ प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त वैदिक सुबन्तों में कुछ ऐसी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं जो लौकिक संस्कृत में नहीं मिलती। जैसे-

* लौकिक संस्कृत में 'विश्व:' शब्द के प्र०वि० बहु व० में 'विश्वानि' रूप प्राप्त होता है, जबकि वैदिक भाषा में 'विश्वानि' शब्द के साथ-साथ 'विश्वा' रूप भी प्राप्त होता है। पाणिनि ने 'शेश्छन्दसि बहुलम्' सूत्र से 'शि' का लोप माना है।

* इसी तरह अकारान्त पु० शब्दों में प्र०वि० बहु व० में 'देवा:' 'जना:' इत्यादि के स्थान पर देवास: और 'जनास:' रूप भी प्राप्त होता है; पाणिनि ने 'आज्जसेरसुक्' सूत्र से 'जस्' को असुक् आगम् का विधान करके इसे सिद्ध किया है।

* वैदिक भाषा में अकारान्त शब्दों में तृ०वि० बहु० में 'देवै:' आदि के स्थान पर देवेभि: रूप भी प्राप्त होता है; पाणिनि ने बहुलम् छन्दसि सूत्र के द्वारा ऐसा विधान का बहुल करके माना है।

* लौकिक संस्कृत में अकारान्त नपुं० प्र०वि० बहु० में 'विश्वानि' 'तानि' 'यानि' आदि रूप बनते हैं जबकि वैदिक भाषा में जस्' के स्थान पर 'शि' का लोप हो जाता है। पाणिनि ने 'शेश्छन्दसि बहुलम्' सूत्र के द्वारा इसका विधान किया है, तथा विश्वा, ता, या आदि रूप को स्वीकार किया है।

* वेद में इतरत् के स्थान पर इतरम् शब्द प्राप्त होता है।

* सुबन्त रूपों में वैदिक भाषा का बहुत ही उदात्त रूप दिखाई देता है। वैदिक भाषा में किसी भी सुप् के स्थान में 'सु' का प्रयोग सुकों का लुक्, पूर्वसवर्ण, सुकों के स्थान में आत्, शे, या, डा, ड्या, याच् और आल् आदि प्रयोग भी दिखाई देते हैं। जैसे – पथिन् शब्द के प्रथमा वि० बहु० में पंथान: शब्द बनना चाहिए जबकि वेद में 'जस्' के स्थान पर सु आदेश होकर पंथा: रूप प्राप्त होता है। इसीप्रकार गौरी शब्द से स०वि० एक० में ङि का लुक् होने पर गौर्याङ् के स्थान पर गौरी शब्द ही प्राप्त होता है।

■ उरुणा के स्थान पर उरुया युष्मासु के स्थान पर युस्मे अस्मभ्यम् के स्थान अस्मे आदि रूप वैदिक भाषा के सुबन्तों की विविधता के ही द्योतक हैं। पाणिनि ने इन सभी विविधताओं के लिए –

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल: सूत्र के द्वारा इन रूपों का विधान किया है।

* इनके अतिरिक्त 'श्री' और 'ग्रामणी' शब्दों के ष०वि० बहु० में नुट् आगम होकर श्रीणाम् और ग्रामणीनाम् रूप भी वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं। पाणिनि ने 'श्रीग्राम०योश्छन्दसि' सूत्र के द्वारा इनका विधान किया है।

* अक्षि शब्द के तृ०वि० द्वि० में अक्षिभ्याम् के स्थान पर अक्षीभ्याम् रूप प्राप्त होता है। पाणिनि ने 'ई च द्विवचने' सूत्र के द्वारा इसका विधान किया है।

इसप्रकार उपर्युक्त विवेचन से वैदिक भाषा में प्राप्त विविधताओं और विशेषताओं को अत्यन्त संक्षेप में इंगित

किया गया है। अतः कहा जा सकता है कि वैदिक सुबन्त रूपों में लौकिक संस्कृत भाषा की अपेक्षा रूपों की विविधता प्राप्त होती है, जो वैदिक भाषा के उदात्त स्वरूप का परिचायक है।

वैदिक लेट् लकार

वैदिक भाषा की अनेक विशेषताएँ हैं, जो उसे लौकिक संस्कृत से भिन्न स्वरूप प्रदान करती हैं, लेट् लकार का प्रयोग भी एक ऐसी ही विशेषता है, जो केवल वैदिक भाषा में दिखाई देती है। लौकिक भाषा में लेट् लकार का प्रयोग नहीं मिलता। लेट् लकार के अर्थ के संदर्भ में पाणिनि ने लिङर्थे लेट् और उपसंवादशंकयोश्च सूत्रों का उल्लेख किया है। लिङ् लकार का प्रयोग, विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण अधिष्ट (सत्कारपूर्वक किसी बड़े को कोई कार्य करने के लिए निवेदन करना) सम्प्रश्न, प्रार्थना, आदि अर्थों में होता है। द्वितीय सूत्र में निर्दिष्ट, उपसंवाद शब्द का अर्थ है- किसी कार्य को करने के लिए शर्त रखना।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि विधि आदि अर्थों में महर्षि पाणिनि और भारतीय परम्परा के अन्य विद्वानों को लेट् लकार का प्रयोग अभिष्ट है। परन्तु आधुनिक विद्वान पाणिनि और भारतीय विद्वान परम्परा में प्राप्त इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि लिङ् लकार के साथ कुछ समानताएँ होने पर भी लेट् लकार के प्रयोग का क्षेत्र उनसे भिन्न है। मेक्डानल के अनुसार

लेट् लकार का मूल अर्थ आकूति (Will) है, जबकि विधिलिङ् का अर्थ इच्छा या संभावना। पाश्चात्य विद्वानों ने लेट् लकार के प्रयोगों को तीन भागों में बाँटकर उसका विश्लेषण किया है। जो निम्न हैं –

(क) भविष्यत् अर्थ में लेट्

वैदिक भाषा में भविष्यत् अर्थ में लेट् लकार का प्रयोग अधिकतर उत्तम पुरुष में प्राप्त होता है। मध्यम तथा प्रथम पुरुष के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। इनकी एक विशेषता यह है कि इनके साथ 'नु' तथा 'हन्त' निपातों का प्रयोग दिखाई देता है। यथा-

प्र नु वोचा सुतेषु वाम्।

अर्थात् – सोमों का रस निकालने पर मैं तुम दोनों की स्तुति करूँगा।

* उपदेश, प्रार्थना आदि के अर्थ में लेट् का प्रयोग, लेट् लकार के मध्यम पुरुष के अधिकतर रूप और प्रथम पुरुष के कुछ रूप उपदेश और प्रार्थना आदि के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे – हनो वृत्रं जया अपः। अर्थात् – वृत्र को मारो और जलों को जीतो। यहाँ हनो और जया दोनों ही रूप मध्यम पुरुष के हैं। प्रार्थना के रूप में – स देवाँ एह वक्षति। वह (अग्नि) देवताओं को यहाँ लाए। यहाँ वक्षति प्रथम पु० का रूप है।

(ख) इच्छा की अभिव्यक्ति में लेट् लकार

वैदिक भाषा में कुछ स्थानों पर लेट् लकार का प्रयोग इच्छा की अभिव्यक्ति के अर्थ में भी मिलता है। जैसे- 'अग्निना रयिमश्नवत्'। अर्थात् – वह अग्नि के द्वारा धन को प्राप्त करे। यहाँ 'अश्नवत्' लेट् लकार का रूप है, जिसका प्रयोग इच्छा प्रकट करने के लिए किया गया है।

लेट् लकार की एक अन्य विशेषता है, उसके रूपों की विविधता। लेट् लकार में पाणिनि के अनुसार 'सिप्' आगम सिप् को जिद्वद्भाव परस्मैपद में इकार का लोप आदि सभी कार्य विकल्प से होता है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि लेट् लकार का प्रयोग वैदिक भाषा की एक ऐसी विशेषता है, जो उसे लौकिक संस्कृत से भिन्न स्वरूप प्रदान करती है।

(ग) विधिमूलक लकार

सामान्य भाषा में लुङ्, लङ् और लृट् लकार का प्रयोग भूतकाल में होनेवाली क्रिया की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है, परन्तु वैदिक भाषा में इनका प्रयोग काल सामान्य में अर्थात् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान किसी भी काल में किया जा सकता है। लुङ्, लङ् लकारों में अट् और आट् आगम सामान्य रूप में होता है। निषेधार्थक 'मा' अव्यय का योग होने पर इन लकारों के अट् और आट् आगम रहित रूप प्राप्त होते हैं।

वैदिक भाषा की विशेषता यह भी है कि मा निषेधार्थक अव्यय के योग होने पर तथा बिना उसके योग के भी लुङ् और लङ् लकारों के अट् और आट् आगम रहित रूप भी वहाँ प्राप्त होते हैं। इन्हीं अट् और आट् आगम रहित रूपों को विधिमूलक लकारों के नाम से जाना जाता है। अर्थ की दृष्टि से विधिमूलक लकारों का प्रयोग तीन रूपों में दिखाई देता है-

(A) भविष्यत् अर्थ में विधिमूलक लकार

वैदिक संहिताओं में कुछ स्थानों पर विधिमूलक का प्रयोग लेट् लकार के समान भविष्यत् अर्थ में मिलता है। यथा- इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचाम्।

अर्थात् - मैं इन्द्र की वीरताओं का वर्णन करूँगा।
यहाँ वोचम् पद अट् आगम रहित लङ् लकार का रूप है, तथा इसका प्रयोग भविष्यत् कालिक क्रिया को बताने के लिए हुआ है।

(B) प्रार्थना तथा उपदेश आदि अर्थों में विधिमूलक लकार

वैदिक भाषा में विधिमूलक लकारों का अधिकतर प्रयोग विधिलिङ् के समान प्रार्थना और उपदेशादि अर्थों में मिलता है। जैसे - इमा हव्या जुषन्त नः।

अर्थात्, वे हमारी इन आहुतियों का सेवन करें। यहाँ जुषन्त: पद विधिमूलक लकार का है, जिसके द्वारा 'वे सेवन करें' ऐसी प्रार्थना की गई है।

'मा' अव्यय के साथ 'वृणक्' मूलक का प्रयोग भी संहिताओं में प्राप्त होता है। यथा - मा न इन्द्र परा वृणक्। अर्थात् - हे इन्द्र हमारा परित्याग मत करो। यहाँ 'मा' के साथ 'वृणक' विधिमूलक का प्रयोग 'परित्याग मत करो' ऐसी प्रार्थना के लिए किया गया है।

(C) इच्छा की अभिव्यक्ति में विधिमूलक लकार

वैदिक भाषा में कहीं-2 इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए भी विधिमूलक का प्रयोग प्राप्त होता है। यथा - अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु तेन जेष्म धनं धनम्।

अर्थात् - युद्धों में तेज घोड़े की भाँति अग्नि को हमारी स्तुतियाँ प्रेरित करें जिससे हम धनों को जीतें। यहाँ जेष्म पद विधिमूलक लकार का है, जिसके द्वारा इच्छा की अभिव्यक्ति की गई है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि वैदिक भाषा का जो उदात्त स्वरूप सुबन्त और कृदन्त में प्राप्त होता है, वैसी ही विविधता विधिमूलक लकारों में प्राप्त होती है।